शैव धर्म का उद्‌भव और उत्कर्ष

शिव से सम्बन्धित धर्म को 'शैव धर्म' कहा गया तथा इस धर्म के भक्तों और अनुयायियों को 'शैव'। शैव धर्मावलंबियों के प्रधान इष्टदेव भगवान शिव हैं। यह उत्तरवैदिक कालीन नाम है। विष्णु की तरह उनके अवतारों की कल्पना नहीं की गई न ही उनका विकास अवतारवाद के आधार पर हुआ, बल्कि उनका विकास 'रुद्र' से 'शिवम्' के रूप में हुआ। शिव की प्राचीनता प्रागैतिहासिक है। नवपाषाण युग की अनेक जातियों में भूमि की उर्वरता के लिए लिंग-पूजा की जाती थी। गुडिमल्लम और भीटा से ऐसे लिंग प्राप्त हुए हैं जिनपर मनुष्य की आकृति में देवता अंकित हैं। कुछ लोगों ने उनकी प्राचीनता की खोज सैंधव सभ्यता में की और यह कहा कि वहाँ से प्राप्त मुहरों पर शृंगधारी मानवाकार बैठे हुए देवता पाशुपत शिव हैं और उनका प्रतीक लिंग भी चित्रित है जिनके चारों ओर शेर, हाथी आदि पशु बैठे हैं। शिव का एक दूसरा चित्र ताम्रपट पर मिला है जिसमें वे यात्री के रूप में दर्शित हैं तथा

उनके सम्मुख दो सर्प हैं और उनके गले में सर्प की माला है। सिंधु सभ्यता के अवशेषों में छोटे-छोटे अनेक लिंग मिले हैं। अगर इस मत को ठीक मान लिया जाय तो शैव धर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म हो जाएगा। किन्तु तारतम्य और शृंखला के अभाव में यह मत स्वीकार करना तर्कसंगत नहीं। ऋग्वेद में शिव के लिए 'रुद्र' नाम का व्यवहार हुआ है, जो अपनी कठोरता और रुद्रता के लिए ख्यात हैं। वे अपनी भयंकर और विनाशक शक्ति से मनुष्य और पशु दोनों को विनष्ट कर देते हैं। उनकी क्रुद्ध और प्रलयकारी शक्ति से महामारियाँ फैल जाती तथा घर के घर उजड़ जाते हैं। अतः उनकी विध्वंसकारी शक्ति से बचने के लिए ऋग्वैदिक आर्यों ने उनकी स्तुति और वन्दना प्रारम्भ की, जिससे वे प्रसन्न रहें और अपनी विनाशक शक्ति से मनुष्य को कष्ट न दें। ऋग्वेद के विवरण के अनुसार उनके द्वारा फेंके गये बाण तीव्र रूप से स्वर्ग और पृथ्वी पर गिरते हैं[292]। वे अपने अस्त्र से मनुष्य और गाय को हत्त करते हैं[293]। अतः ऋषियों ने उनकी प्रार्थना की कि वे अपने आयुधों को दूर रखें तथा द्विपदों और चतुष्पदों की रक्षा करें[294]। इस प्रार्थना द्वारा रुद्र के विनाश से लोग बच जाते थे। फलस्वरूप वे उन्हें पशुपति अथवा पशुओं का रक्षक कहते थे। ऋग्वेद से विदित होता है कि उनकी उपाधि 'पशुप' थी[295]। रुष्ट होने पर वे महामारियाँ फैला देते थे, अतः उनसे बचने के लिए लोग उनकी पूजा करते तथा आशा करते थे कि लोगों की विभिन्न रोगों से मुक्ति मिलेगी। रुद्र के पास सहस्त्रों औषधियाँ थी[296], जिनके कारण रोगों से छुटकारा पाना सरल था।

उत्तरवैदिक काल में रुद्र का विकास अधिक तीव्र गति से हुआ। उन्हें 'शतरुद्रिय' और 'शिवातनुः' (मंगलमय) कहा गया और साथ ही पर्वत पर शयन करने के कारण उन्हें 'गिरिश' और 'गिरित्र' नाम से अभिहित किया गया[297]। उन्हें पशुओं का स्वामी कहा गया[298], जो 'पशुपति' (पशूनाम् पतिः) के रूप में उनका विशिष्ट नाम हो गया। धीरे-धीरे रुद्र की व्यापकता बढ़ती गई तथा समाज में उनका विस्तार होता गया। दिशाओं के पति (स्वामी) के रूप में भी उनका स्थान बनता गया। 'कपर्दिन्' (जिनकी ज्वालाएँ कपर्दों की तरह थीं) की संज्ञा देकर उन्हें अग्नि से अभिन्न माना गया। उनकी उग्रता जब शांत हो जाती थी तब उन्हें 'शम्भु', 'शंकर' और 'शिव' नामों से अभिहित किया जाता था। चर्म धारण करने के कारण वे 'कृतिवासनः' के रूप में ख्यात थे। उन्हें 'शर्व-भव' भी कहा गया। सम्भवतः निषाद आदि अनार्यों से सम्बद्ध होने के कारण ही उनको चर्म-परिधान धारण करनेवाला माना गया था। रुद्र से अनेक रुद्रों को उद्भूत माना गया था, जो उनकी व्यापकता व्यंजित करता है। इसलिए इन रुद्रों को गणपति, कर्मकार, कुम्भकार, रथकार, तक्षक और निषादों के पति (स्वामी) के रूप

---

292. ऋग्वेद, 7.46.3.
293. वही, 1.114.10, आरे ते गोघ्नमुत पुरुषघ्नं ...।
294. वही, 1.114.1.
295. वही, 1.114.9.
296. वही, 7.46.3.
297. तै०सं०, 4.5.1.1; वा०सं०, 16.1, याते..... गिरिशन्ताभिस्ताकशीहीति; सायण की टीका, गिरौ शेते गिरिशः।
298. वा०सं, 16.1, पशूनां पतये नमः।

में स्वीकार किया गया। लगता है, उपर्युक्त वर्गों और अनार्य जातियों के वे उपास्य और आराध्य देव थे। इसी युग में आर्य रुद्र का आर्येतर शिव के साथ समीकरण हुआ। शतरुद्रिय से स्पष्ट होता है कि रुद्र अथवा शिव मनुष्यों की बस्ती से दूर रहते थे। वह चोरों, डाकुओं और व्रात्यों के पूज्य देवता थे। यजुर्वेद में वर्णित है कि शिव का सम्बंध आर्य संस्कृति से नहीं, केवल अनार्य लोगों से था। गणपति, तक्षा, निषाश, रूप के गण आदि ऐसे पर्याय रुद्र के लिए व्यवहृत हुए हैं, जो उनकी अनार्य जातियों से समीपता दृढ़ करते हैं। अथर्ववेद के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि देवताओं ने महादेव (पशुपति, शर्व, धनुर्धर भव, रुद्र, उग्र) को विभिन्न दिशाओं के व्रात्यों का स्वामी नियुक्त किया था।

समाज में रुद्र की महत्ता, विशिष्टता और उत्कृष्टता बढ़ती गई। द्विपद और चतुष्पद के शासक के रूप में उनको भी स्वीकार किया गया। उनका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था तथा इनका आयाम बहुत बड़ा था। अथर्ववेद[299] और शतपथ ब्राह्मण[300] में उन्हें 'सहस्राक्ष' कहा गया था। निकटवर्ती और दूरवर्ती समस्त पदार्थ उन्हीं के थे, साथ ही वे समग्र धनुर्धरों में श्रेष्ठ थे। उनका आघात सभी देवताओं और मनुष्यों को आहत कर सकता था। अतः उनके द्वारा अपनी रक्षा के लिए उनकी आराधना की जाती थी। रुद्र सर्वत्र था- जल, अग्नि, औषधि, वनस्पति और समस्त भूतों में। आकाश और अन्तरिक्ष का वह स्वामी था। वह 'भूतपति' और 'पशुपति' था[301]। पशुपति के रूप में उसके अधीन पाँच प्रकार के पशु थे- गौ, अश्व, मनुष्य, अजा और भेड़। उनकी आराधना करते हुए कहा गया कि वे विनाश, विष और अग्नि से रक्षा करें[302]। अथर्ववेद में उन्हें भव, स्वर्ग और पृथ्वी का ईश कहा गया तथा भव, शर्व और रुद्र (पशुपति) के बाण को 'सदाशिव' बनने के लिए कामना व्यक्त की गई[303]। उनकी उपस्थिति आकाश, पृथ्वी अन्तरिक्ष और दिशाओं में, सर्वत्र मानी गई थी। वे 'भव' के रूप में पूर्वी प्रदेश के अन्तर्वर्ती स्थान में, 'शर्व' के रूप में दक्षिण में, 'पशुपति' के रूप में पश्चिम में, 'उग्र' के रूप में उत्तर में, 'रुद्र' के रूप में भूतल में, 'महादेव' के रूप में ऊपर और 'ईशान' के रूप में अन्तरिक्ष में व्याप्त थे[304]। अतः सम्पूर्ण सृष्टि में उनका विस्तार था तथा समस्त जगत् उनके निर्देश से संचालित था। ब्राह्मण ग्रन्थ में उन्हें उषा का पुत्र बताया गया है। प्रजापति द्वारा रखे गए उनके आठ नामों में से एक नाम 'अशनि' (वज्र) भी था[305]। उनके आठ नामों में से रुद्र, शर्व, उग्र और अशनि ये चार नाम विध्वंसकारी और विनाशकारी थे तथा चार नाम, भव, पशुपति, महादेव और ईशान, कल्याणकारी, यद्यपि समस्त देवगण उनकी रुद्रता से भयत्रस्त थे[306]।

---

299. अथर्ववेद, 11.27, अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना ।
रुद्रेणार्कघातिना तेन मा समरामसि ॥
300. शतपथ ब्राह्मण, 9.1.1.6, रुद्रः सहस्राक्षः शतेषुधिरार्धिज्यधन्वा।
301. अथर्ववेद, 6.93.2; 11.2.1, 4.
302. वही, 11.2.6.
303. वही, 11.6.9.
304. वही, 15.5.1 7.
305. श०ब्रा०, 6.1.37; कौ० ब्रा०, 6.1.7.
306. श०ब्रा०, 9.1.1.1, एषोऽग्र रुद्रो देवता ... तस्माद्देवा अबिभयुः।

सूत्र ग्रंथों में भी रुद्र की अपनी अलग विशिष्टता है तथा उनके विवरण से यह प्रमाणित होता है कि उनका अनार्य तत्त्वों पर प्रभाव था। उनको प्रसन्न करने के लिए पशुबलि की व्यवस्था की गई थी जो ग्राम की सीमा के बाहर आयोजित की जाती थी तथा अवशिष्ट ग्राम में नहीं लायी जाती थी[307]। उनके बारह नामों के साथ उनकी स्तुति की जाती थी। उन बारह नामों में 'अशनि' को छोड़कर पूर्ववर्ती सात नाम थे तथा पाँच और नाम संयुक्त किये गए थे, जो इस प्रकार हैं- हर, मृड, शिव, भीम और शंकर। उनके साथ इन्द्राणी, रुद्राणी, शर्वाणि और भवानी नामक चार पत्नियाँ भी जोड़ दी गई और उनके लिए भी आहुति की व्यवस्था की गई। मार्ग को पार करते समय, चतुष्पथ पर पहुँचते समय, नदी पार करते समय, नाव पर आरूढ़ होते समय, पर्वत, श्मशान और गोशाला जैसे स्थानों के मध्य से जाते समय अपने सुरक्षार्थ रुद्र की उपासना की जाती[308] तथा मन्त्र का जप किया जाता था[309]। स्पष्ट है, रुद्र एक विशिष्ट देवता के रूप में विकसित हो रहे थे, जिनकी आराधना समाज में निरन्तर की जाती थी। नदी, पर्वत-प्रदेश, मैदान, श्मशान, गोशाला आदि स्थानों से जाते समय उनका स्मरण किया जाता था। अतः वे विभिन्न प्रकृतियों के देवता थे, जिनका प्रसन्न रहना मनुष्यों के लिए आवश्यक था।

श्वेताश्वतर, अथर्वशिरस् जैसे उपनिषदों में शिव के दर्शन और ज्ञान-तत्त्व की मीमांसा की गई है तथा उनका सम्बन्ध ईश्वर, जीव और प्रकृति-तत्त्वों से स्थापित किया गया है। तैत्तिरीय संहिता में उनकी एकता शिव से स्थापित की गई है (4.5.1)। उन्हें सर्वोच्च देव का पद प्राप्त था। इस युग तक रुद्र-शिव की प्रतिष्ठा बढ़ गई थी, किन्तु उनकी पत्नी का कोई उल्लेख नहीं मिलता। केन उपनिषद् में उमा का नाम अवश्य मिलता है, किन्तु वह रुद्र की पत्नी नहीं है, वह हिमवान की पुत्री 'हैमवती' है। श्वेताश्वतर उपनिषद् से सिद्ध होता है कि श्वेताश्वतर ऋषि भक्ति के वशीभूत होकर रुद्र की शरण में गये थे।

महाभारत में शिव का उल्लेख सर्वोच्च और शक्तिशाली देवता के रूप में हुआ, जिनसे पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के लिए अर्जुन को हिमालय जाना पड़ा था। वहाँ उन्होंने किरात के वेश में रह रहे शिव की वास्तविकता को समझे बिना उनसे युद्ध किया, किन्तु वे परास्त होकर भूमि पर पड़ गए। इसके बाद उन्होंने मृत्तिका की वेदी बनाकर शिव की आराधना की और देखा कि जो पुष्प उन्होंने अर्पित किया था वह किरात के सिर पर रखा हुआ है। तब उन्होंने शिव को पहचानकर अपने को उनके चरणों में शरणागत किया। भगवान् शिव ने प्रसन्न होकर अर्जुन को पाशुपत अस्त्र प्रदान किया[310]। भगवान् शिव से इसी प्रकार पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने की कथा उपरिलिखित वनपर्व के अतिरिक्त द्रोणपर्व में भी है, जब अर्जुन और कृष्ण स्वप्नावस्था में हिमालय जाते हैं और शंकर भगवान् की स्तुति करके पाशुपत अस्त्र की कामना करते हैं। शिव उन्हें एक सरोवर तक जाने का निर्देश देते हैं, जहाँ पाशुपत अस्त्र है। वहाँ पहुँचने पर उन्हें सरोवर में दो विषधर सर्प दिखाई देते हैं, किन्तु देखते ही वे धनुष-बाण बन जाते हैं

---

307. आ० गृ० सू०, 4.9.
308. पा०गृ० सू०, 3.15.
309. हि० गृ० सू०, 1.5.16.
310. महाभारत, वनपर्व, 38-40.

जिन्हें अर्जुन उठा लेते हैं। महाभारत के ही सौप्तिक पर्व में विवृत है कि शिव की कृपा से अश्वथामा को एक खड्ग मिला था जिससे उन्होंने पाण्डवपुत्रों का वध कर डाला था। पुत्र-प्राप्ति के लिए कृष्ण ने स्वयं शिव की आराधना की थी, तदनंतर भगवान् शिव ने अपनी पत्नी उमा के साथ प्रकट होकर कृष्ण को मनोवांछित वर प्रदान किया था[311]। लिंग पूजा का जो उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है उसका शैव धर्म से सम्बन्द्ध होना अत्यन्त विवादग्रस्त है। ऋग्वेद में शिश्न-पूजकों को घृणा की दृष्टि से देखा गया है[312]। पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि तत्कालीन समाज में इसका प्रचलन था, चाहे वह अनार्यों के ही समाज में क्यों न रहा हो। किन्तु सायण ने शब्दोत्पत्ति करते हुए भाष्य किया है कि 'शिश्नदेव' का अर्थ होता है 'वे व्यक्ति जो शिश्न से ग्रीड़ा करें[313]।' दूसरे शब्दों में, ऐसे लोगों को अब्रह्मचारी कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में 'शिश्नदेव' लिंगपूजा का परिचायक नहीं। लिंगोपासना का संकेत महाभारत के अनुशासन पर्व में मिलता है, जो सम्भवतः अनार्य प्रभाव के कारण था। पाणिनि पर भाष्य करते हुए पतंजलि ने शिव की मूर्ति बनाकर पूजा करने की बात कही है। उसने शिश्न-पूजा का कोई भी संकेत नहीं दिया है। शक शासक मोग की मुद्राओं पर त्रिशूलधारी शिव अंकित है। पह्लव नरेश गुण्डफर्न के कुछ सिक्कों पर त्रिशूल और जटाधारी शिव का चित्र उत्कीर्ण है। कुशाण शासक विम कदाफिसस के सिक्कों के पृष्ठ भाग पर नन्दी और त्रिशूलग्राही, चर्म धारण किए हुए शिव की आकृति उत्कीर्ण है, लिंग की कोई आकृति नहीं मिलती। हुविष्क की मुद्राओं पर शिवलिंग अंकित है।

गुप्त काल में शैव धार्म का उत्कर्ष तीव्र गति से हुआ। गुप्त-सम्राटों के वैष्णव धर्मावलम्बी होने के बाद भी उनकी धर्म-सहिष्णुता की भावना से शैव धर्म का समाज में यथोचित प्रसार हुआ। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का मंत्री वीरसेन शैव धर्मावलम्बी था। कुमारगुप्त प्रथम के मन्त्री पृथ्वीसेन ने शिव-मन्दिर को दान प्रदान किया था, जिसका उल्लेख करमदण्डा-अभिलेख में हुआ है। स्कन्दगुप्त का अधीनस्थ सामन्त महाराज हस्तिन शिवोपासक था। स्कन्दगुप्त के बैल-प्रकार के सिक्के उसकी शैव धर्म के प्रति आस्था व्यक्त करते हैं। वस्तुतः शैव धर्म के इस प्रसार का प्रारंभ शुंग-सातवाहन-काल से हुआ जो गुप्त-काल में चरम परिणति पर पहुँचा। उस युग में अनेकानेक शैव मन्दिरों के निर्माण के साथ शिव की महिमा से सम्बन्धित उत्कृष्ट साहित्य की भी रचना हुई। साहित्यिक रचना के क्षेत्र में कालिदास का शीर्षस्थ स्थान है, जिन्होंने 'कुमार-संभव' नामक महाकाव्य की रचना करके शैव धर्म की प्रतिष्ठा में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया। 'कुमारसंभव' में शिव के चरित्र, महिमा और गुणों का वर्णन है। इस कृति के अतिरिक्त महाकवि की अन्य कृतियों में शिव के विभिन स्वरूपों, मतों और सिद्धांतों का उल्लेख है। महेश्वर, ईश, ईश्वर, परमेश्वर, अष्टमूर्त्ति, वृषभध्वज, शूलभृत, पशुपति, त्र्यंबक, त्रिनेत्र, स्थाणु, अयुग्मनेत्र, नीलकण्ठ, नीललोहित, शितिकण्ठ, चण्डेश्वर, विश्वेश्वर, शंभु, हर, गिरीश, महाकाल, भूतेश्वर, शिव, शंकर, पिनाकी आदि नामों से शिव का उल्लेख हुआ है। कालिदास के साहित्य में गोकर्ण के शिव, काशी के विश्वनाथ और उज्जैन के

---

311. वही, अनुशासन पर्व, 14; द्रष्टव्य भंडारकर, वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर रिलिजस सेक्टस, पृ० 162.
312. मैकडानेल, हिस्ट्री अव संस्कृत लिटरेचर, पृ० 155.
313. ऋग्वेद, 7.21.5; 10.99.3, शिश्नेन दीव्यंति क्रीडन्त इति शिश्नदेवा अब्रह्मचर्या इत्यर्थः

महाकाल-ज्योतिर्लिंग का संकेत मिलता है। जल, पावक, क्षिति, गगन, समीर, सूर्य, चंद्र (मन, पिंड) अर्थात् प्रकृति की संयुक्तता से शिव की अष्टमूर्ति का निर्माण होता था। वे जगत्स्रष्टा के रूप में पूजित थे तथा उन्हें ही सृष्टि भी कहा गया। अष्टमूर्ति के आठ स्पष्ट रूप थे रुद्र, भव, शर्व, ईशान, पशुपति, भीम, उग्र और महादेव। अभिज्ञानशाकुंतलम् में शिव के अष्टरूप की इस प्रकार व्याख्या की गई है- जल, अग्नि, होता, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु। यह माना गया कि ब्रह्म जगत् के स्रष्टा हैं, विष्णु पालक और शिव संहारक। कालिदास द्वारा शाकुन्तलम् का आरम्भ और अन्त शिव की स्तुति से किया गया है। पुराणों में उनकी अनुपम महिमा निरूपित की गई है। उन्हें देवों में श्रेष्ठ महादेव कहा गया है[314]। स्कन्द पुराण में पशुपति, सर्वज्ञ, ईश्वर, सब तत्त्वों के मूल तत्त्व तथा सनातन भगवान् रुद्र ने कहा है कि सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म से भी पहले मैं ही अकेला ईश्वर था, वर्तमान में भी मैं ही ईश्वर हूँ और भविष्य में भी मैं ही एकमात्र ईश्वर रहूँगा। मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा ईश्वर नहीं है[315]। उनकी इस प्रतिष्ठा और महानता का कारण यह था कि उन्होंने अपने ऐश्वर्य से देवताओं को, शक्ति से असुरों को, ज्ञान से मुनियों (ऋषियों) को तथा योग से प्राणियों को पराजित किया था[316]। पुराणों में उनको त्र्यंबक, भव, शर्व, महादेव, ईशान, शूलपाणि, शंकर, शूली, त्रिशूलधारी, पिनाकी, नीललोहित, नीलग्रीव, शितिकण्ठ, सहस्राक्ष, वृषभध्वज, पशुपति, अतिभैरव आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। अपने कार्यों को सम्पन्न करने की उनमें अद्‌भुत क्षमता थी। दक्ष का यज्ञ विध्वंस करने के लिए उन्होंने प्रज्वलित अग्नि के समान वीरभद्र को अपने मुख से उत्पन्न किया था। शिव के इस उग्र रूप के विपरीत उनका लोककल्याण का भी रूप है, जिसमें वे विष का पान करते और नीलकंठ कहे जाते हैं।

पुराणों में शिश्न-पूजा (लिंग-पूजा) का भी उल्लेख है। एक बार जब ब्रह्म और विष्णु में श्रेष्ठता का विवाद चल रहा था तब उन्होंने दीप्तिमान् अव्यक्त लिंग देखा[317]। किंतु लिंगपूजा का स्पष्ट वर्णन मत्स्य पुराण में हुआ है, जिसके अनुसार त्रिपुर के दग्ध होने के समय बाणासुर ने शिवलिंग को सिर पर रखकर शिव की पूजा की थी[318]। मथुरा के एक स्तम्भ-लेख से विदित होता है कि उपमितेश्वर और कपिलेश्वर नामक शैव आचार्यों के सम्मान में शिवलिंगों का स्थापन किया गया था[319]। ऐसा प्रतीत होता है कि शिवलिंग की पूजा का प्रसार समाज में

---

314. वायु पुराण, 5.41, देवेषु महान् देवो महादेवस्ततः स्मृतः।
315. स्कन्द पुराण, 1.2.7 8, सोऽब्रवीद् भगवान् रुद्रः पशूनां पतिरीश्वरः।
सर्वज्ञः सर्वतत्त्वानां तत्त्वभूतः सनातनः॥
अहमेको जगद्धातुरासं प्रथममीश्वरः।
वर्तामि च भविष्यामि न मत्तोऽन्योऽस्ति कश्चन॥
316. वायु पुराण, 70.61 62, अत्येति तेजसा देवो महादेवस्ततः स्मृतः।
अत्येति देवानैश्वर्याद् बलेन च महासुरान्॥
ज्ञानेन च मुनीन् सर्वान् योगाद् भूतानि सर्वशः।
317. मत्स्य पुराण, 60.4; ब्रह्माण्ड पुराण, 2.26.21, वायु पुराण, 55.21,
प्रादेशमात्रमव्यक्तं लिंगं परमदीपितम्।
318. मत्स्य पुराण, 188.61, उत्थितः शिरसा कृत्वा लिंग....।
319. इंडि० इं०, 21, 9.

अत्यन्त परवर्ती काल में हुआ, सम्भवतः गुप्त-युग में।

पाशुपत संप्रदाय का गुप्त-काल में अत्यधिक विकास हुआ। यद्यपि इस संप्रदाय के अतिरिक्त वीर, शैव, प्रत्यभिज्ञा आदि कई सम्प्रदाय थे, तथापि पाशुपत मत के माननेवाले लोग तत्कालीन समाज में अधिक हुए। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त के तीन अंग हैं- (1) पति (स्वामी), (2) व्यक्ति, आत्मा या 'पशु' और (3) पाश (बन्धन)। इनके अतिरिक्त चार पाद हैं- (1) विद्या या ज्ञान, (2) क्रिया अथवा कर्म, (3) योग (ध्यान) और (4) चर्या अथवा आचार।

पशुपति के रूप में भगवान् शिव की उपासना समाज में प्रचलित थी। पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिए अर्जुन की कठिन तपस्या का उल्लेख कालिदास ने भी किया है[320]।

अर्धनारीश्वर के रूप में भी शिव की कल्पना की गई। शिव और पार्वती की संयुक्त मूर्तियाँ गुप्त-युग में और उसके परवर्ती युग में विशेष रूप से कोरी गईं। इसी संयोग का वर्णन कालिदास ने 'कुमारसंभव' में अत्यन्त यत्नपूर्वक किया है। शिव और पार्वती का परस्पर इतना तादात्म्य हुआ कि दोनों की सन्निहित मूर्ति 'अर्धनारीश्वर' के रूप में समाज में चल पड़ी जिसके अन्तर्गत पुरुष और नारी को एक ही शरीर के भाग के रूप में स्वीकार किया गया तथा यह अभिव्यक्त किया गया कि स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं। एक दूसरे के बिना दोनों अधूरे हैं। इसलिए स्त्री अर्द्धांगिनी कही जाती है। वस्तुतः स्त्री और पुरुष दोनों संयुक्त होकर सृष्टि करते हैं। फलतः शिव और पार्वती-युक्त 'अर्द्धांगिनी' की मूर्त्ति इसी कल्पना पर आधारित थी, जिसमें अर्धांग रूप में शिव बायीं ओर और अर्द्धांगिनी रूप में पार्वती दाईं ओर दर्शित हैं। अतः इस काल में अर्धनारीश्वर की अनेकानेक मूर्तियाँ गढ़ी गईं जो तद्युगीन शैव और शाक्त दर्शन की समन्वित प्रतीक हैं। शिव की पूजा के साथ-साथ शक्ति की भी पूजा समाज में बढ़ी तथा लोग शक्ति के भी उपासक होने लगे। अर्धनारीश्वर की मूर्तियाँ प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। वैशाली की एक मुहर भी अर्धनारीश्वर की मूर्ति रूपायित की गई है, जो अत्यन्त सजीव और अभिराम है। कुर्किहार से प्राप्त अष्टधातु की मूर्ति इसी प्रकार सुन्दर और आकर्षक है। प्रतिहार-अभिलेख में भी अर्द्धनारीश्वर का उल्लेख हुआ। सेन-अभिलेख में अर्द्धनारीश्वर को नृत्य करते हुए चित्रित किया गया है।

त्रिमूर्ति के अन्तर्गत ब्रह्म, विष्णु और शिव की पूजा होती थी, जिसका प्रारंभ गुप्त-युग में हुआ था। ब्रह्म, वैष्णव और शैव सम्प्रदायों का एक साथ समन्वित होकर एकीकृत होना त्रिमूर्ति की अभिव्यंजना है। समन्वय की यह उदार भावना गुप्त-युग की अभूतपूर्व देन है। तीनों देवताओं के गुण, बल और स्वभाव को एक ही आधार-स्थल पर समाहित करके बहुदेववाद को एकदेववाद की ओर अग्रसर किया गया। कालिदास ने अपने ग्रंथों में इन तीनों देवताओं की समान भाव से वन्दना की है तथा उसके सम्मान और वैभव का वर्णन किया है। अतः इन तीनों देवताओं का वैभव 'त्रिमूर्ति' के समाहार और प्रतिष्ठापन में दर्शित होता है। कालिदास स्वयं समन्वयवादी विचार के थे। उनके वैष्णव धर्म का प्रतीक ग्रंथ 'रघुवंश' है जिसमें राम के वैभव और ऐश्वर्ययुक्त चरित्र का रूपांकन है, किन्तु ग्रंथ का प्रारम्भ शिव की स्तुति से किया गया

320. विक्रमोर्वशी, 1.1.

है, जो महाकवि के शैव होने का परिचायक है। कालिदास शिव के श्रेष्ठ उपासक थे; उन्होंने शक्ति के पुरुष से विलग होने और फिर पहचानी जाकर एक होने का, 'प्रत्यभिज्ञा' वर्णन का पूर्वरूप, अपने ग्रंथ 'शाकुन्तलम्' में विवृत किया है। अतः उन्होंने शिव की सर्वत्र आराधना की है, स्तुति की है। वैसे यत्र-तत्र ब्रह्म की भी उन्होंने अतिशय वन्दना की है जिनका उदात्तरूप 'कुमारसंभव' में देखा जा सकता है। इस प्रकार तीनों विशिष्ट देवताओं का गुणगान करके महाकवि ने सहिष्णुता, एकत्व और एकदेववाद का चित्रण किया है, जिनका समन्वित रूप 'त्रिमूर्ति' की एक मूर्ति के रूप में देखा जा सकता है। यह कल्पना अद्वैत सिद्धांत को भी स्पष्ट करती है। एलिफैण्टा की त्रिमूर्ति अत्यन्त विख्यात है जिनमें ब्रह्म, विष्णु और महेश (शिव) हैं। ब्रह्म सर्जन, विष्णु पालन और महेश संहार के प्रतीक हैं।

हरिहर के रूप में शिव को विष्णु के साथ दर्शित किया गया, जिसने 'द्विदेव' की कल्पना को मुखर किया। वैष्णव और शैव धर्म के समन्वय का यह ज्वलन्त प्रमाण था, जिसकी कल्पना महाकवि कालिदास ने अपने ग्रंथों में की थी। वस्तुतः यह दोनों सम्प्रदायों के पारस्परिक सौहार्द, सम्मिलन और समन्वयवादी प्रवृत्ति के कारण ही सम्भव हो सका, नहीं तो उत्तर भारत में भी दक्षिण भारत की तरह वैष्णवों और शैवों के बीच संघर्ष चल पड़ता। वैष्णव और शैव के समन्वय की जो परम्परा कालिदास ने प्रारम्भ की थी वह निरन्तर अबाधित रूप में चलती रही, जिसकी पराकाष्ठा तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस' में हुई। हरिहर की अनेकानेक मूर्तियाँ गुप्त-युग में कोरी गईं तथा दोनों सम्प्रदायों की भावना को एक ही मूर्ति के माध्यम से व्यक्त किया गया। मूर्ति के दायें भाग में शिव के लक्षण हैं, जैसे जटा बढ़ाए हुए, त्रिशूल, हाथों में परशु या अंकुश एवं बायें भाग में किरीटधारी विष्णु, जिनके हाथ में शंख और चग्र हैं।

उत्तरप्राचीन काल में शिव-पूजा का प्रसार

उत्तरप्राचीन काल में शैव धर्म का विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में विकास हुआ[321]। शैव, कालानन या कारुक, पाशुपत-कुलशील और कापालिक जैसे सम्प्रदायों के लोग समाज में व्याप्त हो गये थे। कभी-कभी शासक भी शैव धर्मानुयायी होते थे। गौड़-नरेश शशांक दृढ़ शैवमतावलम्बी था। यहीं नहीं, प्रारम्भ में कन्नौज-नरेश सम्राट् हर्ष भी शिवोपासक था[322]। उस समय भारत में शैव धर्म का अत्यधिक प्रभाव था। श्वानच्वांग के अनुसार वाराणसी शैव धर्म का प्रधान केन्द्र था, जहाँ एक सौ शिव-मन्दिर थे[323]। उत्तर भारत के विभिन्न भागों में विविध राजवंश शासन करते थे, जिनके पृथक्-पृथक् राजा अपनी रुचि के अनुसार शैव धर्म के अनुयायी थे। तत्कालीन अभिलेख इस बात के प्रमाण हैं कि शिव का स्तवन 'ओम् नमः शिवाय' के साथ प्रारम्भ होता था[324]। देवाधिदेव महादेव की अत्यन्त भावभीनी वन्दना और स्तुति की जाती थी, जिसमें उनकी ऐश्वर्य-गाथा होती थी[325]। कलचुरि-अभिलेख में शिव को

321. पाठक, हिस्ट्री आव शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इंडिया, पृ० 3.
322. बाँसखेड़ा ताम्रपत्र, परममाहेश्वरो माहेश्वर इव परमभट्टारक महाराजाधिराज श्रीहर्षः।
323. बील, 2, पृ० 44 55.
324. इंपि० इं०, 21, पृ०48.
325. वही पृ० 44, धृत गगन सिंधुपट्ट शतसूता शातभंजिका सुभगः।
जयति जग त्रय मण्डप मूलस्तम्भो महादेवः।

परम ब्रह्म, देवदेव और जगद्गुरु कहा गया है, जिसकी सेवा में ब्रह्म और अनेकानेक देव लगे रहते थे[326]। इसी तरह भेड़ा-घाट-अभिलेख में शिव को 'कल्याणिताम्' कहते हुए भाल पर शशि को धारण करनेवाला कहा गया है[327]। एक अन्य कलचुरि-अभिलेख में शर्व (शिव) की अत्यन्त मोहक प्रशस्ति की गयी है[328]। उदयपुर-प्रशस्ति में शम्भु (शिव) को 'भुजंगमाल' से युक्त और 'गंगांबुसंसिक्त' अभिव्यंजित किया गया है[329]। तत्कालीन युग के अभिलेखों में शिव के अनेक नाम मिलते हैं, जिनमें केदारेश्वर, रामेश्वर, सोमनाथ, रुद्र, भवानीपति, व्योमकेश, शिव, महादेव, उमापति, पशुपति, योगस्वामी, लोलार्क, विन्देश्वर, नीलकण्ठ, धूर्जटि, अर्धनारीश्वर, सदाशिव, परममाहेश्वर आदि-आदि प्रसिद्ध हैं। कलचुरी, परमार, प्रतिहार, सेन, चन्देल, चेदि, गहड़वाल आदि राजपूत राजवंश के शासकों ने समय-समय पर शिव की अभ्यर्थना की थी। उस युग में अनेक शिव-मन्दिरों और प्रतिमाओं का निर्माण-कार्य हुआ। विजयसेन की देवधर-प्रशस्ति से विदित होता है कि गगनतल स्पर्श करने वाला प्रद्युम्नेश्वर का एक विशाल मन्दिर बना था[330]। पाल शासक नारायणपाल ने बौद्ध होते हुए भी, एक सहस्त्र शिव-मन्दिरों का निर्माण करवाया था[331]। उसके उत्तराधिकारी विग्रहपाल ने भी शिव-मन्दिर बनवाया था। उस युग में आसाम, बंगाल और उड़ीसा में अनेक शिवमन्दिर निर्मित हुए। उत्तर भारत में प्रतिहार, गहड़वाल और चन्देल शासकों के सहयोग से शैव धर्म का अनुपम विकास हुआ तथा स्थाण्वीश्वर से लेकर कन्नौज तक और बुन्देलखण्ड के खजुराहो-कालिंजर तक अनेक शिव-मन्दिरों की पताकाएँ गगन चूमती थीं। खजुराहो में उदयन द्वारा एक मनोरम शिव-मन्दिर की स्थापना की गयी थी[332]। यह सर्वविदित है कि चन्देल शासकों के प्रोत्साहन, रुचि और संरक्षण के कारण खजुराहो में विभिन्न देवताओं के आकर्षक और अभिराम मन्दिरों का निर्माण हुआ, जिनमें शिव के भी मन्दिर थे। खजुराहो के कंदरिया महादेव का मंदिर स्थापत्य

---

326. वही, 2, पृ० 18, ओम् ज्ञानानन्दम् परम ब्रह्म ब्रह्मादि सुरसेवितम्।
वंदमेहि महादेवं देवदेव जगद्गुरुम्॥

327. वही, पृ० 10, कल्याणिताम् विकलां भवतां तनातु।
भाले कलानिधिकला शशिशेखरस्य॥

328. वही, 21 पृ० 149, फणिश्वास श्यामेश्वन दमरनद्यम्भसि च
यज्जटा जटाम्भोधे नयन शिखि विद्युद् विलसति।
तथा चूड़ा चन्द्रद्युति निकर धारेव कुकुभम्
कपालानां माला तुलयसि च सर्व्वो विजयते॥

329. वही, 1, पृ० 233, गंगाम्बुसंसिक्त भुजंग मालवाले कलेद्वारमलां कुरामा यन्मूर्द्धिन् नभेहित कल्प वलल्या भातीव भर्त्य तवास्तु शम्भुः।

330. वही, 1 पृ० 310, दिक् शाखा मूलकाण्ड गगनतल महाम्भोधिमध्यान्तरीयं।
भानोः प्राक्प्रत्यगद्रि स्थितिमिल दुदयास्तस्य मध्यास्त शैलम्।
आलम्ब्यास्तम्भमेकं त्रिभुवन भवनस्यैक शेषं गिरीणां
स प्रद्युम्नेश्वरस्य व्यधित वसुमती वासवः सौधमुच्चैः॥

331. इंडि० ऐ०, 15, पृ० 306, महाराजाधिराज श्रीनारायणपालदेवेन स्वयं कारित सहस्त्रायतनस्य। तत्र प्रतिष्ठापितस्य, भगवतः शिवभट्टारकस्य।

332. आर्केयोलाजिकल सर्वे आव इंडिया, 21,
उदयन इति राजा यः कृले पाण्डवानां सकलभुवन नाथस्यास्य भद्रेश्वरस्य।
पवन स्खलित चित्र रम्यकांतेष्टकाभिः गृहवरमति भक्त्या कारितं तेन पूर्वम्॥

कला का अद्भुत नमूना है। यहाँ के विश्वनाथ और मेवाड़ मन्दिर भी उसी युग के आसपास निर्मित हुए हैं। कलचुरि-शासकों ने भी अनेक शिव-मन्दिर बनवाकर पूजन किया था। रतनपुर-अभिलेख में उल्लिखित है कि कुमरकोट में दो शिव-मन्दिरों का निर्माण हुआ था[333]। मल्हार-प्रस्तर-अभिलेख से विदित होता है कि 919 ई० में केदार शिव का मन्दिर बना था। चेदिअभिलेखों में भी अनेक शिव-मन्दिरों के निर्माण का उल्लेख है। प्रतिहार शासकों के वर्णन में भी शिव-मन्दिर के बनने के उल्लेख हैं। बाउक के ग्वालिर-अभिलेख से ज्ञात होता है कि सिद्धेश्वर महादेव के नाम से उसने शिव-मन्दिर निर्मित कराया था[334]। राजस्थान के अनेक अभिलेखों में शिव-मन्दिर-निर्माण के उल्लेख हैं। गुजरात के कतिपय चौलुक्य शासक भी शिव-भक्त थे। भीम प्रथम शिवोपासक था। उसने सोमनाथ का प्रस्तर का मंदिर निर्मित करवाया था, जो कालान्तर में महमूद गजनी द्वारा तोड़ दिया गया था। तत्पश्चात् कुमारपाल ने उसका पुनर्निर्माण करवाया था। जयसिंह सिद्धराज भी शिवोपासक था जिसने सहस्त्रलिंग झील का निर्माण कराया था। सोमनाथ के मंदिर का उल्लेख अलबीरूनी ने भी किया है, जो अपने समय में अत्यन्त प्रसिद्ध और अर्थसम्पन्न मंदिर था। वह लिखता है कि सोमनाथ के पूजन के लिए नित्य कश्मीर से पुष्प और गंगा से जल आता था[334*]।

शिव-मंदिरों के अतिरिक्त शिव की विभिन्न मुद्राओं में आकृतियाँ भी कोरी गईं। शिवलिंग के भी निर्माण हुए तथा शिव-पार्वती की मूर्तियाँ गढ़ी गईं। नटराज की भी आकृतियाँ चित्रित की गईं जो दक्षिण भारत की नटराज की मूर्ति से भिन्न थीं। पूर्वी बंगाल से नटराज की जो मूर्ति मिली है, वह बैल पर बैठी, नृत्य करती हुई, दस हाथोंवाली है, जबकि दक्षिण भारत की नटराज की मूर्ति चार हाथोंवाली, अपस्मार दैत्य पर खड़ी होकर नृत्य में लीन है। सेन शासकों की मुहरों पर दस हाथवाले सदाशिव की आकृति उभाड़ी गई है। अर्धनारीश्वर की भी मूर्ति मिलती है, किन्तु बहुत कम। वैसे, प्रतिहार अभिलेख में अर्धनारीश मूर्ति का उल्लेख हुआ है[335]। सेन-अभिलेख में अर्धनारीश्वर की मूर्ति नृत्य करते हुए उल्लिखित की गई है[336]। उमा-महेश्वर की मूर्ति तो विभिन्न प्रदेशों में प्रचुर संख्या में मिलती है, जिसमें शिव अपनी पत्नी उमा को बाईं जाँघ पर बैठाकर आलिंगित किये हुए हैं जिनमें उनका बायाँ हाथ पार्वती के वाम वक्षस्थल पर है। ऐसी मूर्तियों में शिव-पार्वती दोनों कमल पर बैठे हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न रूपोंवाली शिव की मूर्तियाँ भारत के अनेक भागों से प्राप्त हुई हैं।

शैव मठों का भी उल्लेख विभिन्न अभिलेखों में मिलता है, जहाँ शैव धर्मानुयायी योगी के रूप में रहा करते थे। इस प्रकार के मठ जन-कोलाहल से दूर, निर्जन और एकान्त स्थानों पर बनाए जाते थे। कभी-कभी शैव संन्यासी सुदूर पहाड़ियों-जंगलों में भी रहते थे, किन्तु बहुधा

---

333. इपि०इं०, 27, 268-69, सुधांशुधवलं तत्र धूर्ज्जटेर्धाम निर्म्मितम्।
निर्म्मितं मंदिरं रम्यं कुमराकोटपत्तने।

334. वही, 18, पृ० 96, पुष्करणी कारिता येन प्रेतातीर्थे च पत्तनं।
सिद्धेश्वरी महादेव कारितस्तुंगमंदिरं।

334*. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 183-84.

335. इपि० इं०19, पृ० 175, हरस्यार्द्धनारीश मूर्ति।

336. वही, 14, पृ० 159, संध्या ताण्डव सन्निधान विलसन् नान्दी निनादोर्म्मभिर्निनर्म्मर्यादरसार्णवो दिशतु वः श्रेयोऽर्द्धनारीश्वरः।

वे मठों में ही आवासित रहते थे। मठों के व्यय के लिए राजाओं से दान प्राप्त हुआ करते थे। सन्यासियों की सुविधा के लिए मठ के पास तालाब और उद्यान भी बना करते थे तथा उन मठों के व्यय के लिए अनेकानेक गाँव दान में दिये जाते थे[337]। कलचुरि-शासक रत्नदेव तृतीय के मन्त्री ने 1181 ई० में भगवान् शिव की दक्षिण दिशा में एक मठ का निर्माण करवाया था[338]। सोमेश्वर के उदयपुर-अभिलेख में वर्णन है कि कापालिकों (शैव सम्प्रदाय की एक शाखा) के निवास के लिए मठ का निर्माण कराया गया था। पूर्वमध्य युग में राजस्थान में ऐसे अनेक शैव मठ थे, जिनकी आर्थिक सहायता स्थायी रूप में की जाती थी[339]। इस प्रकार उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों पर शैव मठ थे, जहाँ शैव योगी रहकर साधना किया करते थे।

शिव-मंदिरों, मूर्तियों और शैव मठों को तत्कालीन शासकों, श्रेष्ठियों, साधारण जनों और शैव उपासक जनता से प्रचुर धन दान में मिलता था जिससे मन्दिर और मठ का खर्च चलता था। इस प्रकार की आर्थिक सहायता धर्मप्रवण जनता द्वारा सहर्ष दी जाती थी। विभिन्न वस्तुओं के अतिरिक्त बड़े-बड़े भूमिखंड और गाँव आदि मन्दिरों-मठों को दान में दिये जाते थे, जिनकी आय से धार्मिक स्थानों का व्यय-भार उठाया जाता था। ऐसा लोगों का विश्वास था कि दान प्रदान करने से व्यक्ति की मनोवांछित कामना पूर्ण होती है। लोगों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे ज्ञान-रहस्य की प्राप्ति के लिए, युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए तथा नृपतिवंश में जन्म लेने के लिए शिव की उपासना करें[340]। दान में प्राप्त भूमि की आय देवता के पूजन में, सत्र चलाने में, किसी नए कार्य का आरम्भ करने, या शयन-आसन प्रदान करने में, ग्लान (पीड़ित) लोगों को औषधि वितरित करने में तथा मन्दिर के परिष्करण में व्यय की जाती थी[341]। अतः यह उद्धरण इस बात का प्रमाण है कि मन्दिरों-मठों को मिलनेवाले दान उन्हीं के हित में व्यय किये जाते थे।

शैव धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय

शैव धर्म के विकास के साथ ही शिव की विभिन्न प्रकार से पूजा करनेवाले वर्गों का भी विकास हुआ, जो अपने विचारों, मतों और सिद्धान्तों के अनुसार शिव की उपासना करते थे। धीरे-धीरे ऐसे उपासकों के पृथक् वर्ग बन गए, जो स्वतन्त्र शैव सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित हुए। शैवागम में ऐसे शैव सम्प्रदायों की संख्या चार बताई गई- (1) शैव, (2) पाशुपत, (3) कापालिक और (4) कालमुख। वामन पुराण में भी शैव धर्म के ये ही चार सम्प्रदाय विवृत किये गए हैं[342]।

---

337. वही, 31, पृ० 138, 21, पृ० 161, 2, पृ०8-11.
338. वही, 21, पृ० 155, मठः कठोर काष्ठी वैयाकरणाधिपीमता, देव दक्षिण दिग्भागे निवासार्थन नृपस्थिनाम्।
339. वही, 3, पृ० 264.
340. वही, 1, पृ० 26, भवति नृपतिवंशे जन्म पृथ्वी च भोग्या,
भुतिमुधितविचारश्चारूपप्रभाव: ।
समरविजयसम्पत्तस्य भि:प्रपञ्चश्चरण
युगलमूल संश्रितः शंकरस्य ॥
341. इण्डि० ऐ० 15, पृ० 306, भगवतः शिवभट्टारकस्य पाशुपत आचार्य धरिपदश्च यथार्ह पूजा बलि चरु सत्र नवकर्मार्थं शयनासनग्लानभैषज्यपरिष्कारार्थं ।
342. वामन पुराण, अध्याय 6.

1. शैव सिद्धान्त

इस मत के अनुयायियों की दृष्टि में सृष्टि अथवा जगत् के तीन रत्न हैं- शिव, शक्ति और बिन्दु। कर्त्ता शिव हैं, करण शक्ति और उपादान बिन्दु। अतः शैव सिद्धान्त के ये तीन रत्न हैं, जो इस मत के समर्थकों को ज्ञान की प्राप्ति में सहायक होते हैं। शिव की दो शक्तियाँ हैं, समवायिनी और परिग्रह-रूप। समवायिनी शक्ति निर्विकार और चिद्रूपा है तथा परिग्रह-रूपा शक्ति अचेतन और परिणामशालिनी है, जो बिन्दु कही जाती है। बिन्दु भी दो प्रकार का है, शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध बिन्दु महामाया है और अशुद्ध बिन्दु माया। दोनों भिन्न जगत् के उपादान कारण हैं- महामाया सात्विक जगत् की और माया प्राकृत जगत् की। इस मत के चार पाद और तीन पदार्थ हैं, अर्थात विद्या, क्रिया, योग और चर्या चार पाद हैं तथा पति, पशु और पाश तीन पदार्थ। इन तीन पदार्थों का विश्लेषण नीचे किया जा रहा है।

(1) पति का अर्थ शिव से लिया गया है जो स्वामी है। शिव सर्वज्ञ हैं, स्वतन्त्र और ऐश्वर्य-सम्पन्न। वे सर्वद्रष्टा और कर्त्ता हैं। अर्थज्ञान और क्रियाशक्ति का समन्वित रूप उनमें निहित है। उनका कर्मफल-रूप शरीर नहीं है, बल्कि उनका शरीर शक्तिरूप (मंत्र-रूप) है। पंचमंत्र में ईशान, तत्पुरूष, घोर, कामदेव और सद्योजात सम्मिलित हैं। 'ईशान' मंत्र शिव का मस्तक है, 'तत्पुरूष' मुख, 'घोर' हृदय, 'कामदेव' गुह्य अंग तथा 'सद्योजात' पाद। प्रधानतः उनके पाँच कार्य हैं-सृष्टि (उद्भव), पालन (स्थिति), संहार (आदान), तिरोभाव(आवरण) और प्रसाद (अनुग्रह)। शिव की दो अवस्थाएँ हैं, लयावस्था और भोगावस्था। शिव की लयावस्था वह है जब शक्ति समस्त व्यापारों को समाप्त कर केवल स्वरूप में रहती है तथा शिव की भोगावस्था वह है जब शक्ति के कारण बिन्दु कार्य-उत्पादन करता और शिव के ज्ञान और क्रिया में योग प्रदान करता है। शिव के चार अंग बताए गए हैं-मंत्र, मंत्रेश्वर, महेश्वर और मुक्त।

(2) पशु का व्यवहार जीवात्मा के लिए किया जाता है, जो अणु (सूक्ष्म), सीमित शक्ति से समन्वित और परिच्छिन्न है। वह नित्य, अनिष्क्रिय और सर्वव्यापी है। पाश (बन्धन) के हट जाने पर वह शिव-रूप होकर ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति से सम्पन्न हो जाता है। अतः मुक्त और बन्धनहीन जीव शिव है। पशु के तीन प्रकार हैं-(1) विज्ञानाकल, (2) प्रलयाकल और (3) सकल। विज्ञानाकल पशु उसे कहते हैं जो विज्ञान, योग या संन्यास से अथवा भोग से अपना कर्म क्षीण कर लेता है, किन्तु थोड़ा मल (कलुष) रह जाता है। अतः विज्ञानाकल पशु दो प्रकार के होते हैं-एक वे जिनके कलुष समाप्त हो चुके रहते हैं और दूसरे वे जिनके कलुष शेष रहते हैं। प्रथम कोटिवाले जीव को 'विद्येश्वर' पद प्राप्त होता है, जिसकी संख्या आठ है-अनन्त, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकनेत्र, एकरूद्र, त्रिमूर्ति, श्रीकंठ और शिखंडी। प्रलयाकल पशु वह है जिसकी कलाएँ संसार के प्रलय द्वारा समाप्त होती है। इसके दो प्रकार हैं-प्रथम वह जिसके दोनों पाश (मल और कर्म) परिपक्व हो चुके रहते हैं। अतः परिपक्वतावाले पहले जीव को मोक्ष मिलता है, शिव का परम पद, और दूसरे की पुनर्जन्म। सकल पशु में मल, कर्म और माया तीनों तत्त्व रहते हैं। इसके भी दो वर्ग होते हैं, एक परिपक्व कलुपवाला और दूसरा अपरिपक्व कलुपवाला। प्रथम वर्गवाले को अठारह मंत्रेश्वरों के पद प्राप्त होते हैं तथा उसकी रोध-शक्ति समाप्त हो जाने के कारण उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। द्वितीय वर्गवाले को कर्मों की आबद्धता के कारण भोग भोगने के लिए संसार में पुनः आना पड़ता है।

(3) पाश का अभिप्राय बन्धन से है, जिसके द्वारा शिवरूप होने पर भी जीव को पशुत्व की प्राप्ति होती है। पाश के चार प्रकार निर्दिष्ट किये गए हैं– मल, कर्म, माया और रोध-शक्ति। सजीव की प्राकृतिक ज्ञान-क्रिया शक्ति का तिरोहित करने वाला बन्धन 'मल' कहा गया, फल की इच्छा से किया जानेवाला धर्म और अधर्मयुक्त कार्य का बन्धन 'कर्म' के नाम से जाना गया, प्रलयकाल में जीवों को अपने में लीन करनेवाली शक्ति और सृष्टि-काल में उन्हें उद्‌भूत करनेवाली शक्ति को 'माया' की संज्ञा दी गई तथा शिव की शक्ति को, जो जीवों के स्वरूप का तिरोधान करती है, 'रोध' के नाम से अभिहित किया गया।

उपासना मार्ग यही है कि पशु (जीव) पाश (बन्धन) से मुक्त होने के लिए साधना करे, जो क्रिया से ही सम्भव है। मल(बंधन) से मुक्ति न ज्ञान से सम्भव है, न कर्म से, बल्कि वह क्रिया द्वारा ही सम्भव है। जीव तो वस्तुतः शिवरूप ही है, किन्तु पाशों के कारण वह बन्धन से जकड़ा रहता है। अतः क्रिया के माध्यम से जीव को मुक्ति मिलती है। सन्ध्योपासन, मंत्रसिद्धि, पूजा, जप, हवन, आनन्दानुभूति के लिए नैमित्तिक कर्म आदि क्रिया से सम्बद्ध हैं, जो शिव की उपासना अथवा साधना का मार्ग है, जिसके अनुगमन से जीव पाशों से मुक्त होकर शिव बनता है। साधक को शिव स्वयं आचार्य बनकर दीक्षा देते हैं और सांसारिक मोह-माया से मुक्ति दिलाते हैं।

इस प्रकार शैव धर्म में शैव सम्प्रदाय के अनुयायी अपने उपर्युक्त साधना-मार्ग को अपना कर परम तत्त्व शिव की कामना करते हैं।

2. पाशुपत सम्प्रदाय

शैव धर्म के अन्तर्गत पाशुपत सम्प्रदाय का विकास हुआ। पाशुपत मत का उल्लेख महाभारत में हुआ है[343], जिसका उपदेश ब्रह्म के पुत्र भूतनाथ श्रीकण्ठ उमापति शिव ने शांत चित्त होकर दिया था[344]। ऐसा लगता है, पाशुपत मत का उदय महाभारत की रचना के बहुत पहले किसी समय हो गया था तथा इसका प्रवर्तक स्वयं शिव अथवा शिव नामक कोई मनुष्य था, जिसे कालान्तर में शिव का अवतार मान लिया गया। पाशुपत मत का विकास क्रमशः हुआ तथा इसका उल्लेख पुराणों और अभिलेखों में मिलता है। वायु पुराण और लिंग पुराण के विवरणों के अनुसार पाशुपत मत का उद्भव लकुलिन् अथवा लकुलीश नामक ब्रह्मचारी द्वारा हुआ था, जो शिव का अवतार था[345]। जिस समय वासुदेव कृष्ण उत्तरी भारत में अपना धर्म-प्रचार कर रहे थे, उस समय पश्चिमी भारत के कायावरोहण नामक स्थान पर लकुलीश का जन्म हुआ था। वह शिव के अट्ठाईसवें और अन्तिम अवतार थे। उपर्युक्त पुराणों की कथा के अनुसार युगों के अट्ठाईसवें प्रत्यावर्तन में जब कृष्ण द्वैपायन ने जन्म लिया था तब महादेव ने श्मशान में पड़े एक मृत शरीर में प्रवेश किया और लकुकिन् नामक ब्रह्मचारी के रूप में

---

343. महाभारत, शांतिपर्व, 349.64, सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै॥

344. वही, 349.67, उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्राह्मणः सुतः।
उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः॥

345. वायु पुराण, अध्याय 33; लिंग पुराण, अध्याय 24.

अवतरण किया, जिनके कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य नामक चार शिष्य हुए। अन्ततः ये पाशुपत योगमय नियत दृढ़ धर्मोपदेश करके रूद्र में प्रविष्ट हो गए। अतः पुराणों के अनुसार इस मत के प्रवर्तक लकुलिन् थे। 'लकुलिन्' का अर्थ था 'लकुट' या 'लगुड' अथवा 'लकुल' (लँगोटी) धारण करनेवाला। पाशुपत सम्प्रदाय के लोग हाथ में लगुड (दंड) धारण करते हैं, जो एक प्रकार से शिव का प्रतीक होता है। कुशाण शासक हुविष्क (दूसरी सदी ईस्वी) की मुद्रा पर इसी प्रकार का चित्र अंकित है, जो इस सम्प्रदाय के विषय में ज्ञान प्रदान करनेवाला सर्वाधिक प्राचीन प्रमाण है। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (चौथी सदी) के मथुरा-स्तम्भ-लेख में उल्लिखित है कि उदिताचार्य नामक एक पाशुपत अनुयायी ने उपमितेश्वर और कपिलेश्वर नामक दो लिंगों की स्थापना की थी[346]। उस अभिलेख में यह भी विवृत है कि कुशिक के क्रमागत होनेवाले शिष्यों में उदिताचार्य दसवें थे (कुशिकाद्दशमेन)। अगर प्रत्येक शिष्य को 25 वर्ष के अन्तर से रखा जाय तो कुशिक का समय 130 ई० होगा। ऐसा लगता है कि कुशाण शासक हुविष्क सम्भवतः कुशिक समकालीन और पाशुपत मत से प्रभावित था। गुजरात के एक अभिलेख (तेरहवीं सदी) से ज्ञात होता है कि भट्टारक लकुलीश के रूप में शिव ने अवतार लिया था, जिनके चार शिष्य थे। कुशिक उनमें पहले शिष्य थे[347]। चार शिष्यों की सूचना वायु पुराण से भी प्राप्त होती है[348]। पाशुपत व्रत की विशेष चर्या के लिए लकुलीश का अवतार हुआ था[349]। स्पष्ट है कि लकुलीश ने पाशुपत का प्रचार उत्तरी और पश्चिमी भारत में किया था और उनका समय पहली और दूसरी सदी के बीच था। लकुलीश की एक आकृति कश्मीर के पुराणदीप्यान मंदिर (नवीं सदी) के तोरणद्वार पर उत्खचित है[350]। 'लकुलीश पाशुपत' के नाम से भी यह मत चला, जिसमें से मानव-व्यंजक लकुलीश शब्द हट गया और देव-व्यंजक पशुपति बचा रह गया, यद्यपि उदयपुर के एकलिंग-अभिलेख से पता चलता है कि शैव सम्प्रदाय लकुलीश के नाम से भी ख्यात था। इसमें इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक और उनके उत्तराधिकारी कुशिक का भी उल्लेख है, जो गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा-अभिलेख के विवरण से बहुत कुछ मिलता है। बाण ने पाशुपत सम्प्रदाय को शैव धर्म के रूप में विवृत किया है, जिसके अनुयायी अपने ललाट पर भस्म लगाते और रूद्राक्ष की माला लिए रहते थे[351]। ह्वानच्वांग ने लिखा है कि सिंध और अहिच्छत्र के लोग बौद्ध नहीं हैं वे भस्म रमानेवाले पाशुपत मत के माननेवाले हैं[352]। चाहमान् शासक विग्रहपाल के एक अभिलेख में पाशुपत

---

346. एपि० इं०, 19, पृ० 8, अस्यां पृथ्व्यां भगवत्कुशिकाद्दशमेन भगवत्पराशरव्यत्युर्येन भगवत्कपिलविमल शिष्य शिष्येण भगव (दुर्वासित) विमलशिष्येण आर्योदिताचार्य्येण स्वपुण्या ख्यापन निमित्तं गुरूणां च कीर्त्यर्थमुपमितेश्वरकपिलेश्वरौ गुर्ख्यांयतमे..... ...प्रतिष्ठापितौ ।

347. वही, 1, पृ० 281, भट्टारकश्रीलकुलीशमूर्त्याः तपः क्रिया कोऽपफलप्रदाता ।
अवातरद्दशमनुग्रहीतुं देवः स्वयं यालमृगांकमौलिः॥

348. वायु पुराण, 23.221 24.

349. इपि० इं०, 1, पृ० 281, अवतेरुश्चत्वारः पाशुपतव्रतोपदेशचर्यार्थं इह कुशिकगार्ग्य कौरुषमैत्रेया इति तदंतसदः ।

350. एंशिएंट मान्युमेंट्स ऑव कश्मीर, पृ० 114

351. द्रष्टव्य, कादम्बरी, धवलभस्मलालाटिकाभिः अक्षमालिकाप्रायत्नप्रचलकरतलाभिः पाशुपतव्रतधारिणीभिः।

352. वाटर्स, 2, पृ० 257 62.

सम्प्रदाय का उल्लेख हुआ है जिसके अनुसार शैव मतावलम्बी अल्लत ने एक शिव-मंदिर का निर्माण करवाया था जो पाशुपत शिव का सत्यनिष्ठ भक्त था[353]। कलचुरि शासक पाशुपत मत के अनुयायी थे, इसलिए उनके अभिलेखों में इसके उल्लेख मिलते हैं। अल्हण देवी (गांगेयदेव चेदि की पत्नी) के भेड़ाघाट-अभिलेखों में शिव मंदिर का संकेत है, जिसकी व्यवस्था लाट प्रदेश से आए हुए पाशुपत मत के अनुयायियों को सौंपी गयी थी[354]। एक अन्य चेदि-अभिलेख से ज्ञात होता है कि एक पाशुपत सन्यासी भाव द्वारा शिवालय का निर्माण करवाया गया था[355]। कभी-कभी शैव संघों और मठों के प्रधान 'पाशुपत आचार्य' कहे जाते थे। भोजनगर के सोमेश्वर देव के मठनिवासी वास्तिक 'पाशुपत आचार्य' थे[356]।

ऊपर के उद्धरणों में 'पाशुपत' सम्प्रदाय शैव सम्प्रदाय का पर्यायवाची लगता है, किंतु शैव धर्म के सिद्धांत ग्रन्थों के अनुसार दोनों में अन्तर है। गुणरत्न ने नैयायिकों को 'शैव' और वैशेषिकों को 'पाशुपत' कहा है। पाशुपत सम्प्रदाय का प्रवर्तक लकुलीश या नकुलीश नामक ऐतिहासिक मनुष्य था जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। वैसे, पाशुपत-साहित्य अपूर्ण और अधूरा मिलता है। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में नकुलीश पाशुपत के नाम से विवृत है। भासर्वज्ञ (आठवीं सदी) कृत 'गणकारिका' और महेश्वर-रचित 'पाशुपतसूत्र' में इस मत के विषय में विस्तृत चर्चा मिलती है। यद्यपि वायुपुराण में 'पाशुपत' मत के सिद्धांतों और उसके योग-पक्ष पर विचार किया गया है तथा साधना और उपासना का भी संकेत किया गया है[357]। पाशुपत सूत्रों के भाष्यकार कौंडिन्य ने पाशुपत चर्याओं को ब्राह्मण-विरोधी बताया है। ऐसा लगता है कि पाशुपत सम्प्रदाय जाति-पाँति के भेद को नहीं मानता था। वह मानवता का सम्यक् विकास चाहता था। पहली सदी ई० के समय इस सम्प्रदाय का उत्तर भारत में विशेष उत्कर्ष हुआ। शकों, पह्लवों और कुषाणों के काल में इस सम्प्रदाय को प्रश्रय मिला।

पाशुपत सम्प्रदाय का सिद्धांत

पाशुपत मतानुयायी द्वैतवादी हैं। उन्होंने पाशुपत सिद्धांत के अन्तर्गत पाँच पदार्थों को स्वीकार किया-(1) कार्य, (2) कारण, (3) योग, (4) विधि और (5) दुःखान्त। इसी विचारानुसार शंकर ने पाशुपत सम्प्रदाय के पाँच सिद्धांत निर्दिष्ट किये, जिन्हें परवर्ती भाष्यकारों ने अपने विचारानुसार प्रतिपादित किया।

---

353. इपि० इ०, 2, पृ० 123, श्लोक 29 और 35,
दीक्षाजातमलध्वन्सविस्फुर ज्ञाननिर्मलः।
प्रशस्ताग्र्यो भवच्छिष्यस्तस्य पाशुपतः कृती ॥
आसीन्नाष्टिक रूपो यो दीप्त पाशुपत व्रतः ।
तीव्रवेग तमो जात पुण्यापुण्यमलक्षयः ॥

354. वही, 2, पृ०13, लाटान्वय पाशुपतत्तपत्त्वी श्री रूद्रशिर्ष्यिधयद्वध्यत्ताम् ।
स्थानस्य रक्षाविधिमस्य तावद्यावन्मिभीते भुवनानि शम्भुः ।

355. इंडि० एं०, 18, पृ० 210, अभ्यस्त यः पाशुपतं च योगं तपः कर्मरतोनित्यं कर्म संयोगकोपि यः ।

356. वही, 25, पृ० 185, श्री भोजनगरे श्री सोमेश्वरदेवे मठनिवासी परम
प्राशुपत आचार्य भट्टारक श्री भाववास्पिकः ।

357. द्रष्टव्य, वायुपुराण, अध्याय 11-45.

(1) 'कार्य' उसे कहा गया जिसमें स्वातन्त्र्य शक्ति नहीं है। यह तीन प्रकार का माना गया-विद्या, अविद्या (कला) और पशु। कार्य के अन्तर्गत ही जीव और जड़ होते हैं। जीव(पशु) का गुण विद्या है, जो दो प्रकार की है-बोध और अबोध। जीव की बोध स्वभाववाली विद्या चित्त है तथा धर्म और अधर्म से मुक्त विद्या अबोध है। चेतन के अधीन होते हुए स्वयं अचेतन पदार्थ कला है, जिसके दो भेद होते है-कार्यरूपा और कारणरूपा (इन्द्रिय)। कार्ययुक्त कला में पृथ्वी आदि पाँच तत्त्व तथा गंधादि पाँच गुण विद्यमान हैं। कारणयुक्त कला में तेरह इन्द्रियों (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा बुद्धि, अहंकार और मन) का अन्तर्भाव है। पशु पाशों से आबद्ध है, इसलिए उसमें पशुत्व है। पशु के भी दो प्रकार है-एक सांजन और दूसरा निरंजन। शरीर-इन्द्रिय की कलाओं से सम्बन्ध होने के कारण मलयुक्त पशु सांजन है तथा जो पशु इससे आबद्ध न होकर मुक्त और निर्मल है, वह निरंजन है।

(2) 'कारण' वह तत्त्व है जो समस्त वस्तुओं की सृष्टि और संहार के साथ अनुग्रह प्रदान करता है। वही परमात्मा है, परमेश्वर है, जो अपना अपरिमित ज्ञान और प्रभु-शक्ति जीवों को प्रत्यक्ष कराता और उसका पोषण करता है। इसलिए उसे पति की संज्ञा दी गयी। पति के रूप में वह ज्ञान और क्रिया की शक्तियों से सम्पन्न होता है और पूर्णतः स्वतन्त्र होते हुए वह आद्य, कर्त्ता और ऐश्वर्यवान् के रूप में रहता है। उसमें शक्ति और कर्तृत्व का तादात्म्य रहता है तथा वह स्वतन्त्र कर्त्ता कहा जाता है[358]।

(3) 'योग' वह है जिसमें चित्त के माध्यम से 'आत्मा' (जीव पशु) का परमात्मा (पतिकर्त्ता) से सम्बंध स्थापित होता है। योग के दो प्रकार होते हैं-(1) क्रियात्मक (जप, तप, ध्यान आदि) और (2) अक्रियात्मक (क्रिया की निवृत्ति, अनुभव और तत्त्वज्ञान)।

(4) 'विधि' वह साधक व्यापार है जिससे जीव को महेश्वर की प्राप्ति होती है। (1) मुख्य और (2) गौण इसके दो भेद निर्दिष्ट हैं। मुख्य विधि में धर्म का साक्षात् कारण है जिसे 'चार्या' भी कहते हैं। इस मुख्य विधि के भी दो प्रकार हैं– व्रत और द्वार। भस्म-स्नान, भस्म शयन, जप, उपहार और प्रदक्षिणा नामक कार्य 'पंचविधि व्रत' कहे जाते हैं। इसमें उपहार अथवा नियम की छह श्रेणियाँ निर्दिष्ट हैं-हसित, गीत, नृत्य, हुड्डुकार, नमस्कार और जप्य, जिसमें साधक क्रमशः हँसता, गाता, नाचता, बैल के समान शब्द करता, नमस्कार और जप करता है। द्वार के छह प्रकार हैं– (1) ग्राथन (असुप्त व्यक्ति का सुप्त मनुष्य की तरह चेष्टा करना), (2) स्पंदन (निःशक्त के रूप में अंगों का कम्पन), (3) मंदन (लँगड़ाते हुए चलना), (4) शृंगारण (किसी कामिनी को देखकर कामुक जैसी चेष्टा करना), (5) अवितत्करण (विवेकहीन होकर निन्दित कार्य करना) और (6) अवितद्भाषण (अज्ञान की बातें करना)। गौण विधि में अनुस्नान (पूजा के उपरांत भस्म-स्नान), भैक्ष्य, उच्छिष्ट, निर्माल्य और लिंग धारण किया जाता है।

(5) 'दुःखान्त' का अभिप्राय है, दुःख का अंत अर्थात् दुःखों से अत्यन्त निवृत्तिरुपा मुक्ति। दोषों (मलों) के कारण जीव बन्धन में रहता है, जो पाँच प्रकार के हैं– (1) मिथ्या

358. पाशुपत सूत्र 1.8, स्वतन्त्रः कर्त्ता।

ज्ञान, (2) अधर्म, (3) सक्तिहेतु (विषयों में आसक्ति और सम्पर्क), (4) च्युति (रुद्रत्व से चित्त का च्युत हो जाना) और (5) पशुत्व (अल्पज्ञता आदि पशुत्व के उत्पादक धर्म)। योग और विधि से मन को स्थित करते हैं तथा मोक्ष-लाभ के लिए पंचविध उपायों में से 'प्रपत्ति' का साधन बनाते हैं, जिसके कारण शिव का चित्त साधकों के प्रति दयार्द्र और कोमल हो जाता है, फलस्वरूप शिव के अनुग्रह से जीव को मुक्ति मिलती है। अतः दुःखान्त के दो प्रकार हैं-अनात्मक (दुःखों की मात्र निवृत्ति) और (2) सात्मक (ज्ञान और कर्म की शक्ति से परमैश्वर्य की प्राप्ति)। ज्ञानशक्ति के पाँच भेद हैं-(1) दर्शन (सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुओं का ज्ञान) (2) मनन (समस्त चिन्तित विषयों का ज्ञान), (3) श्रवण (भली भाँति शब्दों का ज्ञान)। इसी प्रकार क्रियाशक्ति भी तीन प्रकार की कही गई, जो मुक्त पुरूषों में अद्भुत रूप उद्भूत होती है-(1) मनोजवित्य (तुरन्त कार्य करना), (2) कामरूपित्व (इच्छानुसार विविध रूप धारण करना) तथा (3) विकरणधर्मित्व (इन्द्रिय-व्यापार के अवरूद्ध हो जाने पर भी ऐश्वर्यशाली होना)।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर ही पाशुपत सम्प्रदाय का विकास हुआ तथा उनका वैशिष्ट्य और साधना-तत्त्व शैव धर्म के अन्तर्गत गृहीत हुआ। पाशुपत सम्प्रदाय से सम्बन्धित नेपाल स्थित काठमांडू में पशुपतिनाथ का मंदिर है, जहाँ आज भी दर्शनार्थियों और अनुयायियों की भीड़ लगी रहती है जिनमें भारत के विभिन्न भागों के यात्री भी होते हैं।

3. कापालिक सम्प्रदाय

कापालिकों के इष्ट देव भैरव हैं, जो शंकर के अवतार माने जाते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी भैरव को ही सर्जन और संहार करनेवाला मानते हैं। ये लोग सुरापान करते और समाज में घृणित पदार्थ ग्रहण करते हैं। इनका विश्वास है कि ऐसा करने से इनकी ज्ञान-शक्ति तीक्ष्ण होती है। साथ ही ये लोग सर्वदा भैरवी से आलिंगित रहने का समर्थन करते हैं। शंकरदिग्विजय में उल्लिखित है कि उज्जयिनी में माधव ने शंकराचार्य को कापालिकों से मिलाया। कापालिकों का आचार्य जब आचार्य शंकर से मिला तब उसका शरीर श्मशान-भस्म से पुता हुआ था। उसके एक हाथ में नर-कपाल और दूसरे हाथ में लौह-यष्टि थी। शैव होने के कारण आचार्य शंकर के शरीर पर भी भस्म की रेखाएँ थीं। अतः उस कापालिक आचार्य ने शंकर से कहा–"तुम्हारी काया पर भी भस्म पूर्णतः ठीक है, किन्तु कपाल-पात्र के स्थान पर तुमने यह अपवित्र मृत्पात्र क्यों लिया है? क्यों नहीं तुम कपाल-भैरव का पूजा करते? सुरा और रक्तरंजित कपालों से पूजा किये बिना भैरव कैसे प्रसन्न होंगे[359]?" अतः इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कापालिक सम्प्रदाय का अनुयायी तामसी क्रियाओं का अनुसरण करके तथा उसके माध्यम से अपने उपास्य देव और भैरव को प्रसन्न करता है। सिर पर जटाजूट, गले में रूद्राक्षमाला, शरीर पर श्मशान-भस्म, हाथ में नर-कपाल धारण करना कापालिकों के प्रधान लक्षण हैं। उनका मत है कि छह मुन्द्रिकाओं के प्रयोग से भगासन पर बैठकर परम ब्रह्म 'आत्मा' का चिन्तन करने से

---

359. शंकर दिग्विजय, 15.1-28.

मुक्ति संभव हैं। उनकी छह मुद्राएँ है[360]– (1) कंठिका, (3) रूचक, (3) कुंडल, (4) शिखामणि, (5) भस्म और (6) यज्ञोपवीत। सम्प्रदाय के सिद्धांत के अनुसार इन मुन्द्रिकाओं को धारण करने से मनुष्य आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

कूर्मपुराण में उल्लिखित है कि शैव धर्म के अन्तर्गत कापालिक सम्प्रदाय प्रमुख था[361]। कापालिकों का चरित्र और स्वभाव अत्यंत क्रूर और भयंकर होता था। भवभूति ने 'मालती-माधव' नामक नाटक में कापालिकों का उल्लेख किया है जिनका प्रधान पीठस्थान श्रीशैल था। उनकी नृशंसता और क्रूरता का चित्रण नाटककार ने सजीवता के साथ किया है। नाटक की नायिका मालती को कपालों की माला पहने हुए कपालकुंडला नामक स्त्री श्मशान-स्थित कराला चामुंडा की मूर्ति के सम्मुख ले जाकर उपस्थित करती है। यहाँ आचार्य अघोरघंट उसकी बलि देनेवाले थे। राजस्थान से प्राप्त दो अभिलेखों में भी कापालिकों का उल्लेख मिलता है[362]। किन्तु, शैव धर्म के अंतर्गत यह सम्प्रदाय अत्यन्त भयंकर और आसुर प्रकृति का था तथा भैरव को सुरा और नरबलि का नैवेद्य प्रदान कर भैरवी से आलिंगित होते हुए अपनी राक्षसी प्रवृत्ति व्यक्त करता था।

4. कालामुख सम्प्रदाय

कालामुख सम्प्रदाय के अनुयायी कापालिकों के ही वर्ग के थे, किन्तु वे उनसे भी अधिक अतिवादी और भयंकर प्रकृति के थे। अतिमार्गी होने के कारण ही शिवपुराण में उन्हें महाव्रतधर कहा गया है। नर-कपाल में भोजन करना, जल पीना, सुरा पीना तथा नर-शव का भस्म शरीर पर लगाना आदि कार्य उनकी अतिमार्गी प्रवृत्ति स्पष्ट करते हैं।

5. वीरशैव अथवा लिंगायत सम्प्रदाय

दक्षिण भारत में शैव धर्म का अत्यधिक प्रचार और प्रसार हुआ। इसके अंतर्गत वीरशैव सम्प्रदाय का तीव्रता से विकास हुआ। वीरशैव सम्प्रदाय के अनुयायी 'लिंगायत' या 'जंगम' भी कहे गए। वर्ण-व्यवस्था के प्रतिकूल ये लोग आचरण करते हैं तथा शिवलिंग को चाँदी के सम्पुट में रखकर हर समय अपने गले में लटकाए रहते हैं। बसव पुराण के अनुसार इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन अल्लभप्रभु और उनके शिष्य बसव (या बसवण्ण) नामक ब्राह्मण ने किया था जो कलचुरि शासक विजय का मंत्री था। वीरशैवों का यह मत है कि भिन्न-भिन्न समयों में पाँच महापुरूषों ने इस धर्म का उपदेश दिया था। उनके नाम हैं-रेणुकाचार्य, दारूकाचार्य, एकोरामाचार्य, पंडिताराध्य और विश्वाराध्य। उन आचार्यों का शिव के विशिष्ट लिंगों से जन्म हुआ था। उन लोगों ने रम्भापुरी (मैसूर), उज्जैन, ऊखीमठ (केदारनाथ), श्रीशैल और काशी में अपने विशिष्ट सिंहासनों की स्थापना की। 'श्रीकरभाष्य' में श्रीपति (1060 ई०) ने इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का उपनिषद् से निःसृत बताया है। लिंगायत संप्रदाय का अधिकतर

---

360. कामसूत्र, 2.2.35-36.

361. कूर्म पुराण, 16, कापालं नाकुलं वामभैरवं पूर्वपश्चिमम् ।
पांचरात्रं पाशुपतं तत्रान्यानि सहस्त्रशः ॥

362. इण्डि० ई०, 19, पृ० 47.

साहित्य कन्नड़ भाषा में है। इनका दर्शन और सिद्धांत निम्नलिखित आधार पर विकसित हुआ है:

(1) कर्म की प्रधानता इस सम्प्रदाय की विशेषता है। यह कर्म निष्काम कर्म है, जिसके प्रतिफल की अपेक्षा नहीं है। इसलिए इस मार्ग को 'वीरधर्म' और 'वीरमार्ग' की संज्ञा दी गई।

(2) शिव परम तत्त्व है जो पूर्णतः अहंता और स्वतन्त्र है। उसकी परिभाषा 'स्थल' शब्द से की जाती है, इसलिए कि वह 'स्थित' है, शिव में लय स्थिर कर चुका है। अतः वह परम शिव 'स्थल' है। शिव में ही उपास्य और उपासक के बीच ग्रीड़ा करने की शक्ति है, जो अवसर पड़ने पर विभेदित हो जाता है और स्थल के दो भेद हो जाते हैं, एक अंगस्थल और दूसरा लिंगस्थल। लिंगस्थल उपास्य और शिवरूप है तथा अंगस्थल उपासक और जीव। इसी तरह लिंग (शिव) की शक्ति का नाम कला है और अंग (जीव) की शक्ति का नाम भक्ति। कला-शक्ति 'प्रवृत्ति' है और भक्ति-शक्ति निवृत्ति। सृष्टि शिव से जन्मती तथा भक्ति के कारण सृष्टि का शिव से तादात्म्य होता है।

(3) लिंग के तीन भेद हैं- (1) भावलिंग, (2) प्राणलिंग और (3) इष्टलिंग। भावलिंग कलाविहीन सद्रूप काल और दिक् से अपरिच्छिन्न तथा परात्पर है। इसका साक्षात् श्रद्धा से होता है। प्राणलिंग कलाहीन और कलायुक्त चाक्षुष है। इन तीनों को क्रमशः सत्, चित् और आनन्द कहा जा सकता है। परमतत्त्व भावलिंग है, सूक्ष्म प्राणलिंग है और स्थूल इष्टलिंग।

(4) 'अंगस्थल' का व्यवहार 'जीव' के लिए किया गया, जो तीन प्रकार का है- (1) योगांग (जो जीव-शक्ति से एकीभाव स्थापित करके सोते-जागते आनन्द प्राप्त करता है), (2) भोगांग (शिव के साथ जीव का आनन्दोपभोग करना) और (3) त्यागांग (क्षणभंगुर संसार का त्याग)

लिंगायत सम्प्रदाय में कुछ लिंगी ब्राह्मण भी हैं। लिंग धारण करनेवाले लोग उनके अनुयायी है। लिंगी ब्राह्मणों के दो वर्ग हैं-आचार्य और पंचम। कालान्तर में लिंगायतों की चार श्रेणियाँ हो गईं-जंगम, शीलवन्त, वणिक् और पंचमशाली।

6. कश्मीरी शैव सिद्धान्त अथवा त्रिक् दर्शन

कश्मीर में जिस शैव मत का विकास हुआ वह अन्य शैव सिद्धान्तों से कहीं अधिक उपयुक्त और मानवीय था तथा वह त्रिक्दर्शन के नाम से जाना गया। इस कश्मीरी शैव दर्शन में पाशुपत, कापालिक और कालमुख के निन्दनीय आचारों और गन्दे व्यवहारों का अभाव है। मांस, मदिरा, मैथुन, खोपड़ी में आहार ग्रहण करना, श्मशान की राख अपने शरीर पर मलना तथा मनुष्य और पशु की बलि चढ़ना जैसे अभिचारों की इसमें भर्त्सना की गई है। इस दर्शन में ज्ञान और ध्यान को परमब्रह्म की प्राप्ति का प्रधान आधार माना गया है। इसकी तीन शाखाएँ हैं-आगमशास्त्र, स्पन्दनशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। त्रिक्दर्शन के आगमशास्त्र के अन्तर्गत सिद्धा, नामक, और मलिकी तीन तत्त्व हैं जो क्रमशः पशु, पति और पाश कहे गए हैं। स्पंददर्शन की दो पृथक-पृथक् श्रेणियाँ हैं जिनमें आध्यात्मिक तत्त्वों का एक समान विवरण प्राप्त होता है जिसमें शिव विश्व का स्वात्मैक्य रूप है। उसमें स्पन्दन है तथा शिव और शक्ति तत्त्व का योग

है। इस संयुक्तता से सादाख्य (मैं यह हूँ) तत्त्व का निर्माण होता है। इससे ऐश्वर्य (यह मैं हूँ) का आविर्भाव होता है। स्पंद दर्शन शाखा के पहले दार्शनिक वसुगुप्त थे और उनके शिष्य कल्लट (नवीं सदी)। इस सम्प्रदाय के दो प्रधान ग्रन्थ हैं-शिवसूत्रम् और स्पन्दकारिका। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रवर्तक सोमानन्द थे, जिनकी रचना का नाम 'शिवदृष्टि' है। उनके प्रमुख शिष्य का नाम उदयाकर था तथा प्रशिष्य का नाम अभिनवगुप्त (दसवीं सदी का उत्तरार्द्ध)। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का मूल आशय था कि सब कुछ शिव है। शिव की ज्योति से हम सब उद्भासित होते हैं। सब शिवमय है। जब यह ज्ञात कराया जाता है कि हम शिव हैं तब हम अपने को शिव समझने लगते हैं। यही स्थिति प्रत्यभिज्ञा दर्शन है।

कश्मीरी शैव सिद्धान्त में निम्नलिखित तत्त्व मिलते हैं-

परम तत्त्व अद्वय परमेश्वर है, जो शिव और शक्ति का तथा कामेश्वर और कामेश्वरी का समन्वित रूप है। वह चैतन्य, परा, संवित्, अनुत्तर, परमेश्वर, स्पंद और परम शिव है, जो उसके पृथक्-पृथक अभिधान हैं। उसके दो तत्त्व हैं, 'विश्वात्मक' और 'विश्वोत्तीर्ण'। 'विश्वात्मक' रूप में वह विश्व में सर्वत्र है तथा सृष्टि का अपने आधार पर उन्मीलन करता है[363]। उसकी पाँच शक्तियाँ हैं-चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया, जिनमें समस्त सृष्टि का स्पन्दन है।

जगत् में उसी का रूप है। द्वैत भावना काल्पनिक है तथा अद्वैत भावना वास्तविक। परमेश्वर के हृदय में सृष्टि की इच्छा होते ही उसके दो रूप हो जाते हैं, शिव रूप और शक्ति रूप। दोनों का एक-दूसरे से अटूट सम्बन्ध है। शिव को अपने प्रकाश का ज्ञान शक्ति के कारण होता है और तब सृष्टि होती है।

कलातत्त्व के कारण जीव सर्वकर्तृत्व से कुछ संकुचित हो जाता है। अतः विद्या के कारण उसका संकोचक तत्त्व राग के माध्यम से विषयों के प्रति आकृष्ट होता है। 'काल' और 'नियति' के आवरण से हटने पर जीव की स्वाभाविकता होती है। वस्तुतः प्रत्यभिज्ञा का साधन-मार्ग विशिष्ट उपासना का मार्ग है, जिसमें भक्ति और ज्ञान का अपूर्व सामंजस्य है। अगर देखा जाय तो जीव ही वास्तविक रूप में शिव है। उसमें ज्ञान और भक्ति की सत्ता है। आवरण के कारण वास्तविकता ओझल रहती है। आवरण के हटने पर 'मोक्ष' है, शिव के परम पद की प्राप्ति है।

7. नाथ सम्प्रदाय अथवा योगिनी कौल मार्ग

पूर्व मध्ययुग में शैवधर्म नए रूप और नए आयाम में विकसित हो रहा था, जिसे कलान्तर में नाथ सम्प्रदाय या नाथ पंथ अथवा हठ योग और सहजयान सिद्धि कहा गया। इस सम्प्रदाय में नौ नाथों को दिव्य पुरूप के रूप में माना गया। इसके पहले नाथ स्वयं शिव थे। दसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में मत्स्येन्द्रनाथ अथवा मच्छन्दरनाथ ने इस सम्प्रदाय का प्रचार किया। उनका जन्म बंगाल के एक धीवर परिवार में हुआ था। उन्होंने बंगाल और असम आदि विभिन्न स्थानों की यात्राएँ कीं और तत्पश्चात् 'योगिनी कौल' नामक नए सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

---

363. प्रत्यभिज्ञाहृदय, 2 स्वेच्छया स्वभितौ विश्वमुन्मीलयति ।

'कौल ज्ञाननिर्णय' और 'अकुलवीरतंत्र' नामक उनके ग्रन्थों में योगिनी कौल सिद्धांत की विस्तृत चर्चा की गई है। इस सिद्धांत के अनुसार 'शिव' का नाम 'अकुल' है तथा उसकी शक्ति का 'कुल'। दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बंध है। एक दूसरे के बिना वे नहीं रह सकते। इन दोनों के संयोग से सृष्टि होती है। इस संयोग प्रक्रिया को मानव-जीवन में गृहीत करना ही इसकी धार्मिक क्रिया है। वस्तुतः संयोग का प्रतीक स्त्री-पुरूष का सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में यह साधना वज्रयानी बौद्धों की साधना से साम्य रखती है। इसलिए मत्स्येन्द्रनाथ को 'अवलोकितेश्वर' के अवतार के रूप में स्वीकार किया गया है और तिब्बत में उन्हें सिद्ध लुईपाद के रुप में माना गया है। 'अकुलवीर' नामक तंत्र में वह स्वयं शिव और बुद्ध के एकत्व को अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस युग में वह शिव और बौद्ध तंत्र एक-दूसरे के समीप आए तथा भारत के सामाजिक और धार्मिक जीवन को नया उत्साह प्रदान किया।

गोरखनाथ (10वीं-11वीं सदी) ने मत्स्येन्द्रनाथ के पंथ का अनुगमन किया। वह उनके सक्रिय शिष्यों में थे। नाथ के प्रचार-प्रसार में गोरखनाथ का सशक्त योगदान है। भारत के संत्रस्त सामाजिक और धार्मिक जीवन को उन्होंने नवीन प्रवाह प्रदान किया। अपने स्पष्ट और अनावृत व्यवहार से तत्कालीन समाज को उन्होंने नया मार्ग-दर्शन दिया, जिसमें न ऊँच-नीच की भावना थी, न कर्मकांड और पाखंड की। सम्भवतः वे उत्तरी-पश्चिमी भारत के निवासी थे। रावलपिंडी जिला, जो आज पाकिस्तान में है, उनका जन्म-स्थान बताया जाता है। वैसे गोरखनाथ से सम्बन्धित अनेक स्थान पाकिस्तान में हैं। गोरखनाथ का टीला झेलम जिले में स्थित है, गोरख टहरी पेशावर शहर में है तथा गोरख की धुनी बलूचिस्तान की लालबेला रियासत में है। उन्होंने भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया तथा अपने सिद्धांत का प्रचार किया। उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ के कतिपय मतों का खण्डन किया तथा पूर्ण ब्रह्मचर्य का समर्थन किया। उन्होंने साधना में स्त्रियों के प्रवेश का विरोध किया तथा यह मत व्यक्त किया कि उनके संसर्ग से योग की साधना संभव नहीं। अतः उन्होंने इन्द्रिय-निग्रह और सदाचार की व्याख्या की। साथ ही सच्चरित्रता और जीवन की पवित्रता पर उन्होंने बल दिया। 'योगमार्ग', 'गोरक्षसिद्धांतसंग्रह' जैसे ग्रंथों में उन्होंने अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार 'शिव' ही परमतत्त्व है। जब उसकी सृष्टि की इच्छा होती है तब वह शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाता है। शक्ति की पाँच स्थितियाँ हैं-(1) निजा (परम शिव में लीन), (2) परा (प्रत्यक्ष होने की कला), (3) अपरा (अभिव्यक्ति की स्थिति), (4) सूक्ष्मा (अभिमान का उदय) और (5) कुण्डली (अभिमान की चेतना की क्रिया)। इसी प्रकार उन्होंने शिव के भी पाँच रूपों का निर्देशन किया है-अपर, परम, शून्य, निरंजन और परमात्मा। उनमें आनन्द के पाँच स्तर हैं-परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय, प्रकाश और सोऽहं। फलतः इससे ब्रह्मांड का निर्माण होता है। उसकी प्रतिकृति पिंड है। कुण्डलिनी की शक्ति को सुषुम्ना के मार्ग से छह चक्रों में ऊपर की ओर शिरस्थान में अमृत केन्द्र सहस्त्रार में ले जाते हैं तब शक्ति और शिव का सायुज्य होता है अथवा परम शिव की प्राप्ति होती है। यह समस्त क्रिया योग के अंतर्गत आती है। इस साधना में यह माना जाता है कि वीर्य की रक्षा, श्वास के नियमन और रसों के प्रयोग से योग सम्पुष्ट होता हैं। वस्तुतः गोरखनाथ के कारण नाथ सम्प्रदाय का शीघ्रता से विकास हुआ। यहीं नहीं,

गोरखनाथ से सम्बन्धित अनेक चमत्कारिक कथाएँ भी प्रचलित हुईं तथा यह विश्वास व्यक्त किया गया कि उनका नाम लेने से सिद्धि प्राप्त हो जाती है। वे अपनी साधना से उच्चतम आध्यात्मिक शिखर पर पहुँच गए थे। नेपाल, तिब्बत, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, पंजाब और उत्तर भारत में उनके देवत्व से सम्बन्धित अनेक अनुश्रुतियाँ फैलीं। उन्हें शिव, ब्रह्म और विष्णु जैसे देवताओं की तुलना में अधिक महत्त्व प्रदान किया गया था तथा समाज में उनका उच्चस्थ स्थान स्वीकार किया गया था। 'गोरक्षसंहिता' और 'गोरक्षसिद्धांत' जैसी उनकी कृतियाँ अत्यन्त आदृत और ख्यात हैं। उनके हठयोग और सहजयान योग का तत्कालीन समाज में तीव्रता से प्रसार हुआ जिसने भारत के सामाजिक और धार्मिक जीवन को आन्दोलित किया। उसके सिद्धांतों में प्राचीन शैवों, आजीवकों, वज्रयान बौद्धों आदि के मतों और सिद्धांतों का अनुपम समन्वय है। अनंगवज्र या रमणवज्र जैसा उनका बौद्ध नाम भी मिलता है। वस्तुतः गोरखनाथ ने महात्मा बुद्ध की तरह मध्यम मार्ग का अनुगमन किया। उन्होंने बौद्ध और हिन्दू तांत्रिकों की अनैतिक क्रियाओं तथा आदर्शवाद के आध्यात्मिक सूक्ष्मीकरण और यौगिक क्रियाओं की अतिरंजना का विरोध किया। संयम और सदाचरण को उन्होंने प्रधान आधार माना, साथ ही सहज जीवन-पद्धति को अपनाने के लिए निर्देश दिया।

गोरखनाथ के पश्चात् नाथ सम्प्रदाय में अनेक शिष्य हुए, जिन्होंने अपनी साधना और चमत्कारिक शक्ति से लोगों को आकृष्ट किया। ऐसे सिद्धों में कह्नपा, चर्पटी, चौरंगीनाथ (पूरन भगत), गोपीचन्द आदि प्रमुख हैं, जो अपनी साधना और सिद्धि से लोगों को चकित कर देते थे। ये लोग अपनी घर-गृहस्थी त्यागकर, योगी बनकर, अपने फटे कानों (कनफटे योगी) में मुद्रा धारण करके, सिर पर जटा रखकर, गले में रंग-बिरंगे जोगड़े पहने, कन्धे पर सिंगिया रखे और हाथ में सोटे लिए घर-घर अलख जगाते घूमते थे तथा 'अलख निरंजन' की ध्वनि से पूरा वातावरण गुंजरित करते थे। नाथपंथियों, सिद्धों और तांत्रिकों की जीवन-पद्धति में आचरण, नैतिकता आदि का कोई स्थान नहीं था। उनके दर्शन में खाने-पीने और भोगने की खुली छूट थी। 'ज्ञानसिद्धि' में इन्द्रभूति का कथन है कि योगी यह नहीं देखता था कि उसे क्या खाना है, क्या पीना है, कहाँ जाना है, कहाँ नहीं जाना है। 'कुलाराविर्तंत्र' (अध्याय1) नामक ग्रंथ में कहा गया है कि कौलिकों को वे सभी वस्तुएँ खानी चाहिए जिन्हें सभी लोग वर्जित मानते हैं, उन पेयों को ग्रहण करना चाहिए जिन्हें सभी लोग निन्द्य मानते हैं तथा उन स्थानों पर जाना चाहिए जहाँ के लिए लोग मना करते हैं। वस्तुतः कौल अनुयायियों के मतानुसार मांस, मद्य, रक्त, मज्जा, मूत्र, विष्ठा आदि विहित थे। ऐसा लगता है कि उनके दर्शन में ऐसी निन्दनीय बातों का समावेश इसलिए किया गया कि वे समाज की वर्तमान गति-विधियों में अपने इन कार्यों से अपना विरोध प्रकट करना चाहते थे। 'हठयोग प्रदीपिका' जैसे ग्रन्थों में कौल अनुयायियों के कार्यों का लाक्षणिक अर्थ अभिव्यक्त किया गया है। जैसे, 'गोमांस' का अर्थ जीभ को मोड़कर तालु में लगाना था, 'वारुणी' का अर्थ शिरस्थान में ब्रह्मरन्ध्र के समीप सहस्त्रदल कमल की जड़ के निकट की योनि में स्थित चन्द्रमा से रिसनेवाला रस था। 'चर्यापदों' की टीका करते हुए मुनिदत्त ने कहा कि 'डूमनी' का अर्थ नैरात्म्य और 'शुण्डिनी' (शराब विक्रय करनेवाली) का अभिप्राय इड़ा और पिंगला नामक नाड़ियों के बीच स्थित सुषुम्ना नाड़ी से है। इसी प्रकार

की लाक्षणिक व्याख्या 'हेवज्रतंत्र' में की गई है, जिसमें 'ललना' का अर्थ 'स्त्री' न होकर, इस नाम की नाड़ी है तथा 'मुद्रा' का अभिप्राय भी 'स्त्री' न होकर उँगलियों के विशेष चिह्न को लिया गया। इस तरह 'मद्य', 'मांस' और 'मैथुन' के वे अभिप्राय नहीं जो समाज में स्वीकृत हैं, बल्कि इनके अर्थ 'योग', 'रस' और 'वज्र' की साधनाओं से अभिव्यक्त किये गए। किन्तु ऐसे लाक्षणिक अर्थ लेकर, जो समाज में प्रचलित नहीं थे, नाथ पंथियों और योगियों ने समाज की वर्तमान प्रणाली पर अपना क्षोभ व्यक्त किया। उनके विचारों में वर्तमान सामाजिक और धार्मिक गतिविधियों के प्रति प्रबल विद्रोह और व्यापक असंतोष था, जिससे तत्कालीन भारत में सामाजिक और धार्मिक ग्रांन्ति हुई।